

स्वराज के लिए संघर्ष: उबलता आक्रोश

युद्ध के वर्षों में भारतीय राष्ट्रवादिता को प्रौढ़ता मिली। आंदोलन को गति मिली और एक अर्थ में वह अधिक शक्तिशाली हुआ। ब्रितानी सरकार ने एक सीमा तक युद्ध में भय की प्रशंसा की थी और यह उम्मीद करने का कारण था कि उसे पूर्ण स्वतंत्रता भले न दी जाये, कुछ बड़े सुधार किये ही जाएंगे। राष्ट्रवादी नेता भी उम्मीद बांधे हुए थे लेकिन यदि उनकी आशाओं पर पानी फिरता तो वे पुनः संघर्ष के लिए तैयार थे।

आर्थिक मोर्चे पर भी दबी-दबी आशा थी। युद्ध के दौर में विदेशी आयात लगभग बंद हो गया था। लेकिन ब्रिटेन की युद्धकालीन आवश्यकताएं बढ़ गई थीं। इनमें से कुछ की पूर्ति उत्पादन बढ़ाकर करनी थी। परिणामतया यहां का उद्योग और व्यापार कुछ हद तक सम्पन्न हुआ। उसकी वजह से भारत को एक अंदाजा हो गया था कि यदि अवसर और प्रोत्साहन मिले तो कितनी तरक्की हो सकती है। युद्ध ने भारतीय उद्योगपतियों को मुनाफे और खुशहाली का स्वाद चखा दिया था। सन् 1916 में एक औद्योगिक आयोग करने का गठन हुआ था और उसने सिफारिश की थी कि सरकार प्रगति के रथ को आगे बढ़ाने में सहायता करने की दृष्टि से औद्योगिक विकास में पहले से अधिक सक्रिय भूमिका निभाये और एक पर्याप्त प्रशासनिक मशीनरी का निर्माण करें। भारतीय पूंजीपति औद्योगिक नीति में एक बड़े परिवर्तन की राह देख रहे थे।

इन आशाओं और आकांक्षाओं के साथ-साथ भय और संदेह भी थे। उत्पादित चीजों का मूल्य तेजी से बढ़ गया था। लेकिन कृषिजन्य पैदावार के मूल्य नहीं बढ़े थे। इस्पात और कपड़े की चीजों से अपार मुनाफा कमाया गया। भारतीयों के रोजगार की संभावनाओं में पहले से अधिक वृद्धि हुई, लेकिन वास्तव में ये लाभ जनता को नहीं मिले। मॉरिशस के भारतीय मंडल ने भारत में स्टोर्स खरीदने की दिशा में कुछ कदम उठाये लेकिन भारतीय पूंजीपति इस स्थिति का पूरा फायदा इसलिए नहीं उठा सके क्योंकि भारत में मशीन बनाने के उद्योग कम थे। युद्धकालीन नियन्त्रण और जहाजरानी के अभाव में निर्यात को क्षति पहुंची। उत्पादन भी युद्ध के अंत तक पहुंचते-पहुंचते पिछड़ गया। कारखानों की मंदी और बेरोजगारी आई, दैनिक आवश्यकता की चीजों के दाम भी इस बीच बहुत बढ़ गये। सन् 1914 और 1920 के बीच में कलकत्ता में चीजों के थोक भाव में प्रतिशत की वृद्धि हुई, खाद्यान्नों की कीमत 93 प्रतिशत बढ़ गयी। दूसरे क्षेत्र में भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं थी। इन सबकी वजह से आम जनता चिंतित थी। पूंजीपति सरकारी सहायता और सुरक्षा चाहते थे। क्या एक विजेता ब्रिटेन भारतीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता पूरी करेगा ?

युद्ध खत्म होने के तत्काल बाद ही आर्थिक स्थिति पहले से भी खराब हो गयी। पहले चीजों के दाम तेजी से बढ़े। फिर, विदेशी वस्तुओं का आयात शुरू हुआ और बड़े पैमाने पर बाहरी पूंजी लगायी जाने लगी। आर्थिक गतिविधियाँ धीरे-धीरे मंद होने लगी। भारतीय उद्योग को न केवल भारी क्षति उठानी पड़ी बल्कि मंदी का भी सामना करना पड़ा।

राजनैतिक क्षेत्र में भी बड़ा मोहभंग हुआ। युद्ध के दिनों में एशिया और अफ्रीका के सभी देशों में राष्ट्रीयता को बड़ा उद्दीपन मिला था। जन समर्थन पाने के लिये ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान, सभी ने यह कहा कि युद्ध जनतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था। सभी ने वायदा किया था कि वे सभी देशों और जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करेंगे लेकिन युद्ध के बाद लगा कि वे उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिये तैयार नहीं हैं।

सन् 1919 की शांति संधि ने राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रों और मित्र राष्ट्रों के उद्देश्यों को उजागर कर दिया। जर्मनीवासियों ने भारत के क्रांतिकारी आंदोलन को मदद देने की कोशिश की थी और उनके प्रति कुछ हद तक भारत में सहानुभूति थी। लगा कि वेरासिलीज की संधि में प्रतिशोध के शासन की घोषणा है। पराजित शक्तियों के उपनिवेशों का विजेताओं में वितरण, मध्य यूरोपीय जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की अस्वीकृति, क्षतिपूर्ति के लिये जर्मनी पर जबरन डाला गया बोझ और अंततः तुर्की साम्राज्य के साथ किये गये व्यवहार से भारतीय स्तंभित रह गये। युद्ध के दौरान लॉयड जार्ज द्वारा किए गए वायदों के नाम पर मित्र राष्ट्रों ने ओटोमान(तुर्की) साम्राज्य को खंडित कर देने का फैसला किया। मित्र राष्ट्रों के समर्थन से यूनानियों और इटली वालों ने तुर्की में प्रवेश किया तो लगा कि वे खिलाफत और तुर्की साम्राज्य के विनाश के उद्घोषक हैं। खलीफा को मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग अपना गुरु मानता था। उन्होंने महसूस किया कि खलीफा की हैसियत का किसी भी रूप में दुर्बल होना साम्राज्यवादी आधिपत्य में रहने वाले देशों के मुसलमानों की स्थिति पर बुरा असर डालेगा। परिणाम था खिलाफत आंदोलन का जन्म।

जिस बीच होम रूल प्रदर्शन और खिलाफत आंदोलन के शुरू होने की वजह से भारत में सनसनी फैल रही थी, उसी बीच नवम्बर, 1917 में जारशाही रूस में क्रांति हो गयी और बोलशेविकों ने दुनिया में पहले समाजवादी राज्य की स्थापना की। एक तरफ तो मित्र राष्ट्रीयता ने कुछ उपदेश दिया था। उसका उल्टा किया और दूसरी तरफ रूस ने एकतरफा ढंग से एशिया से अपने साम्राज्यवादी अधिकारों को छोड़ देने की घोषणा की। इसका बहुत अच्छा असर पड़ा। जारों के उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया। एशियाई राष्ट्रीयता वालों को सोवियत संघ में समानता का दर्जा दिया गया। क्रांति ने इस तथ्य को रेखांकित कर दिया कि आम जनता में अपार बल और शक्ति है। उसने सफलतापूर्वक साम्राज्यवादी देशों के हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के तनावों का मुकाबला किया। इन उपनिवेशों में रहने वाली हर जगह की जनता में जान डाली दूर जराज के गांवों में रहने वाले लोगों ने युद्ध से लौटे सैनिकों से इसके बारे में सुना। भूमि को भूमिहीनों में बांटने के

लिए लेनिन के फैसले ने शिक्षित वर्ग को आंदोलित किया। दिल्ली कांग्रेस ने न केवल भारत के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की, बल्कि भारतीय जनता के अधिकारों की घोषणा किए जाने की मांग की।

सिनफेन दल द्वारा आयरी संघ की घोषणा से अतिरिक्त उद्दीपन मिला। ब्रिटेन के विरुद्ध माइकेल कॉलिंस के आयरी गुरिल्लों का दुस्साहसिक संघर्ष जारी था। उनके खिलाफ ब्रिटेन ने जो दमनकारी कदम उठाये थे उसने भारतीयों को रौलेट विधेयक की याद दिला दी। युद्ध के दौरान मित्र में जागलुल पाशा के राष्ट्रवादी दल का व्यापक विकास हुआ। सन् 1919 में जागलुल के देश निकाले के बाद भीषण विद्रोह हुआ। जिसे ब्रितानी सेना ने अत्यंत बर्बरता से दबा दिया। मार्च, 1920 में मित्र को स्वतंत्र करने की घोषणा हुई। लगभग इसी समय तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा मित्र राष्ट्रों के कब्जे के विरुद्ध युद्ध करने और एक अस्थायी सरकार बनाने की कोशिश कर रहे थे। जब मित्र राष्ट्रों ने जापान को शांतुंग को कब्जे में रखने की अनुमति दे दी तो चीन में हिंसक आक्रोश पैदा हुआ। शांतुंग उस वक्त तक जर्मनी का अनुमोदित भूखण्ड था। 4 मई के आंदोलन में जिसमें बुद्धिजीवियों और छात्रों ने एक प्रमुख भूमिका निभाई थी। जापानी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन हुआ। चीनियों ने वेरासिलीज की संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।

एक ओर इन नई शक्तियों ने नई चुनौतियों के प्रादुर्भाव और जनता पर आधारित संघर्ष की शुरुआत को रेखांकित किया और सरकारी नीतियां लंगड़ी सिद्ध हुईं। मांटैग्यू की 20 अगस्त, 1917 की घोषणा के बाद होम रूल बंदियों को रिहा किया गया। सेना में राजपत्रित पदों की भर्ती पर लगा रंगभेद संबंधी प्रतिबंध समाप्त हुआ और भारतीय मामलों के मंत्री स्वयं भारत आये। मांटैग्यू को नरमपंथियों को शांत करने में सफलता मिली लेकिन वह उग्रपंथियों को वश में करने में असफल रहे।

सुधार की वास्तविक योजना राष्ट्रपतियों की मांगों की तुलना में अत्यंत नगण्य थी। इसका मुख्य पक्ष द्वितंत्री सरकार-अर्थात् राज्यों में एक तरह का दोहरा शासन था। शिक्षा और सफाई जैसे कम महत्व वाले विभागों की जिम्मेदारी प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों में चुने गये मंत्रियों को सौंपी जाने वाली थी। जबकि वित्त, पुलिस और सामान्य प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण विभाग कार्यकारी परिषद के सदस्यों के लिये आरक्षित कर दिये गये। तात्पर्य यह कि इन विभागों का नियंत्रण नौकरशाहों के हाथ में था, जो सिर्फ भारत की ब्रितानी सरकार और उसकी संसद के प्रति जिम्मेदार थे। गवर्नर को कार्यपालिका के दोनो विभागों की अध्यक्षता करनी थी लेकिन हमेशा एक साथ नहीं। मंत्रियों को अपने-अपने विषयों में विधान परिषद के प्रति जिम्मेदार होना था, लेकिन यह आवश्यक नहीं था कि गवर्नर उसकी सलाह माने ही। केन्द्रीय सरकार का चरित्र सिवाय इसके कि गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद में एक भारतीय को शामिल कर लिया गया, पहले जैसा बना रहा। वह पहले की तरह संसद के प्रति जिम्मेदार रही। केन्द्र में दो सदनों की विधायिका होनी थी।

निचले सदन में निर्वाचित सदस्यों का और ऊपरी सदन में सरकारी बहुमत होना था। प्रांतीय विधानमंडलों का विस्तार किया गया और व्यापक मतदान के आधार पर निर्वाचित बहुमत की मांग स्वीकार कर ली गयी। प्रांतों के कुछ वितीय और वैधानिक अधिकारों का हस्तान्तरण होने वाला था। बहरहाल, रहे सहे अधिकार भारत सरकार ने अपने पास रखे। पंजाब में सिखों के लिए अलग निर्वाचन मंडल की व्यवस्था हुई।

सुधारों का सबसे निराशाजनक पहलू यह था कि उनकी व्यवस्था के अंतर्गत विधानमंडल का गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारी परिषद पर न कोई नियंत्रण था, न ही उनके बारे में बोलने का अधिकार। इसके साथ—साथ केन्द्रीय सरकार प्रांतों पर नियंत्रण रखने के सभी अधिकार प्राप्त थे। इन सबके अतिरिक्त मतदान भी इतना प्रतिबंधित था कि उसे मुश्किल से जनतांत्रिक कहा जा सकता था। प्रमाण के लिये सन् 1920 में निचले सदन के मतदाताओं की संख्या 9,09,874 थी और ऊपरी सदन की 17,364।

रपट का प्रकाशन (8 जुलाई, 1918) नरमपंथियों और उग्रपंथियों के बीच में संघर्ष का संकेत था। नरमपंथियों ने उनका स्वागत किया लेकिन तिलक ने उसे 'बिल्कुल अस्वीकारणीय' घोषित किया। अगस्त 1918 में बंबई कांग्रेस की एक विशेष बैठक में उसे निराशापूर्ण और असंतोषजनक कह कर प्रांतों के लिए लगभग पूर्ण स्वायत्ता, केन्द्रीय सरकार को कुछ जिम्मेदारियाँ देने और भारत वर्ष की वितीय स्वतंत्रता की मांग की गई। नरमपंथियों की संख्या इस वक्त तक काफी हो गई थी और नवम्बर, 1918 में आते-आते उन्होंने अधिवेशन में शामिल होने से इंकार करके अलग बैठक करने का निश्चय किया। दूसरे वर्ष उन्होंने अपना एक अलग संगठन बनाया। नाम था नैशनल लिबरल फैडरेशन - राष्ट्रीय नरमपंथी संघ। अध्यक्ष हुए सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी। लेकिन अब वे देश की एक राजनैतिक शक्ति रह गए थे।

सुधारों को लेकर गांधीजी की आरम्भिक प्रतिक्रिया अनुकूल थी। लेकिन रियायतें और दमन की नीति का अनुसरण करने वाली सरकार ने इस वक्त राष्ट्रवादियों के सामने दमनकारी कानून का एक कड़वा घूंट पेश करके घातक भूल कर दी। सन् 1905 और 1918 के बीच की क्रांतिकारी गतिविधियों की जांच के लिए रौलेट समिति ने कुछ ऐसे निश्चित अधिकारों के लिये सिफारिश की थी। जिनकी मदद के बिना मुकद्दमे की सुनवाई के स्वैच्छिक गिरफ्तारी, नजरबंदी और सरकार विरोधी गतिविधियों के संदेह में किसी के आने जाने पर प्रतिबंध लगाया जा सके। न्यायाधीशों को अधिकार दिया गया कि वे राजनीतिक मुकद्दमों की सुनवाई बिना जूरी के करें। उनके फैसले पर अपील संभव नहीं थी। ऐसे कागजातों का रखना भी दंडनीय अपराध हो गया जिनमें सरकार के विरुद्ध आरोप लगाये गये हों। प्रस्तावों ने गांधी जी की आँखें खोल दीं। उन्होंने कहा, “वे नागरिक सेवा के आघात करने वाले साधन हैं, हमारे गले पर अपनी गिरफ्तार को मज़बूत बनाये रखने के लिए मेरे विचार से विधेयक हमारे लिए एक खुली चुनौती है।”

गांधी जी का उदय

महात्मा गांधी का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में प्रादुर्भाव अपने में एक दिलचस्प कहानी है। भारतीयों के लिए दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने जो संघर्ष किया, वह सर्वविदित है। सत्याग्रह के उनके अनूठे तरीके के अच्छे परिणाम निकले थे, कांग्रेस के दिग्गजों ने उनके चरित्र और संगठन क्षमता के बारे में ऊंची धारणा बनायी थी। सन् 1915 तक अर्थात् जब तक वह भारत नहीं आये थे, उन्होंने कांग्रेस क्षेत्र में आगे बढ़कर कोई काम नहीं किया था और जनता के लिये अजनबी थे। जवाहर लाल नेहरू जैसे युवकों की दृष्टि में वह “अपरिचित, भिन्न और अराजनैतिक लगते थे।”

लेकिन यह अपरिचय एक वरदान था। उन्हें लेकर लोग भ्रम के शिकार इसलिए नहीं हुए कि वह नरमपंथी थे और कुछ दूर तक उग्रपंथी भी। उनकी संयमित आदतें, साधुवत सम्मोहन, अंग्रेजी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं का प्रयोग और धार्मिक प्रवचन इन सबका जनता पर असर पड़ा और उसने उन्हें अपने हृदय में बैठा लिया। गांधी जी ने अपनी जड़ें भारतीय जमीन में मजबूती के साथ गड़ाई और उसी से उन्होंने अपार शक्ति का संचय किया।

दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष के दौरान उन्होंने सत्याग्रह के दर्शन का विकास किया था। इसके दो प्रमुख तत्व थे। सत्य और अहिंसा की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा कि वह आत्मा की शक्ति या प्यार की शक्ति है और सत्य और अहिंसा से जन्मी है। एक सत्याग्रही हर उस चीज के सामने झुकने से इंकार करेगा जो उसकी दृष्टि में गलत होगा। वह सारी उत्तेजनाओं के बीच शांत रहेगा। वह पाप का विरोध करेगा लेकिन पापी से घृणा नहीं करेगा, वह सत्य का प्रतिपादन करेगा लेकिन विरोधी को आघात पहुँचा कर नहीं वरन् स्वयं को पीड़ित करके उन्हें उम्मीद थी कि ऐसा करके वह उन की अंतरआत्मा को जगाएगा। सफलता के लिए आवश्यक है सत्याग्रही भय, घृणा और असत्य से पूरे तौर पर मुक्त रहे। सविनय अवज्ञाकारियों से वह सहमत नहीं थे क्योंकि उन्होंने हिंसा का परित्याग किसी आवश्यकता के कारण नहीं बल्कि एक सिद्धांत के लिए किया था। उन्होंने कहा, “सविनय अवज्ञा कमजोरों का हथियार है जबकि सत्याग्रह बलवानों का।”

स्वदेशी उनका संकेत शब्द था। उन्होंने उसकी परिभाषा करते हुए कहा था कि ‘स्वदेशी वह भावना है जो हमें दूर की चीजों को छोड़कर अपने आसपास की चीजों के इस्तेमाल और सेवा तक सीमित करती है’, अंतः उन्होंने शारीरिक श्रम पर बल दिया जिसे उन्होंने रोटी के लिए मेहनत और चरखा कहा।

सत्याग्रही यदि अफ्रीका में सफल था तो क्यों नहीं उसकी आजमाइश भारत में की जाए ? उन्होंने कहा कि मुझे कोई संदेह नहीं कि ब्रितानी सरकार एक शक्तिशाली सरकार है। लेकिन मुझे इसमें भी संदेह नहीं है कि सत्याग्रह सर्वोच्च दवा है। उन्होंने उनका प्रयोग बिहार के चंपारण और गुजरात के अहमदाबाद और काहिरा में किया।

जबकि दूसरे राजनीतिज्ञ सुधारों पर बहस कर रहे थे। गांधी जी ने चंपारण (बिहार) के किसानों की पुकार सुनी और उनकी सहायता के लिए उठ खड़े हुए। तिनकटिया प्रणाली के अंतर्गत किसानों को अपनी जमीन के पंद्रह प्रतिशत क्षेत्र पर नील उगाने और उसे अंग्रेज बागवानों को उन्हीं द्वारा निश्चित कीमत पर बेचने की कानूनी विवशता थी। बागवान उनसे गैर—कानूनी वसूली कर सकते थे, उनका दमन कर सकते थे। गांधी जी ने जेल की धमकियों के बावजूद किसानों की शिकायतों की विधिपूर्वक जांच की। उन्होंने वर्षों से पीड़ित किसानों की ऐसी अकाट्य गवाहियां पेश की कि सरकार को विवश होकर एक जांच आयोग की नियुक्ति करनी पड़ी। वह उसके एक सदस्य थे। नतीजा उस प्रणाली की समाप्ति से भी अधिक बड़ा निकला। शताब्दियों से निष्क्रियता में सोते हुए गांवों को जगा दिया गया था। राजेन्द्र प्रसाद, मजहरूलहक, महादेव देसाई और जे. बी. कृपलानी सरीखे युवक राष्ट्रवादियों ने चंपारण में उनके साथ काम किया था और न केवल उनके आदर्शवाद से वरन् उनके राजनैतिक गतिविधियां चलाने के गतिशील, निर्भय, वास्तविक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए थे।

ऐसा ही एक अवसर गुजरात जिले में काहिरा नामक स्थान पर मिला। सन् 1918 में उस जिले में फसलें नष्ट हो गई थीं लेकिन अधिकारियों ने लगान की पूरी वसूली करने की जिद पकड़ी। गांधी जी ने किसानों को सत्याग्रह करने के लिए संगठित किया। उन्होंने लगान देने से इंकार कर दिया। वे कोई भी परिणाम भुगतने को तैयार थे यहां तक कि जो लोग लगान अदा कर सकते थे। उन्होंने भी सिद्धांत के नाम पर सख्ती और कुर्की की सारी धमकियों के बावजूद उसका भुगतान करने से इंकार कर दिया। सरकार अंततः झुकने और किसानों से समझौता करने को विवश हुई। इस आंदोलन के दौर से इंदुलाल याज्ञिक गांधी जी के मुख्य नायब थे। अहमदाबाद के एक सफल और मनस्वी बैरिस्टर सरदार वल्लभाई पटेल काहिरा के सत्याग्रह की सफलता से इतने प्रभावित हुए कि वह गांधी जी के एक अत्यंत और प्रभावशाली अनुयायी बन गये।

सन् 1918 में अहमदाबाद के मिल मजदूरों की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने उन मिल मालिकों के खिलाफ मजदूरों की हड़ताल का नेतृत्व किया जिन्होंने अधिक मजदूरी देने से इंकार कर दिया। मजदूर का मनोबल पुनः जाग उठा उपवास ने सारे देश का ध्यान इस तरह आकर्षित किया कि अहमदाबाद के मजदूर दृढ़ता के साथ संगठित हो गये। परिणाम के डर से घबराकर मिल मालिकों ने उपवास के चौथे ही दिन मांगें स्वीकार कर लीं और मजदूरी में 35 प्रतिशत की वृद्धि करने को राजी हो गये।

सत्याग्रह के इन आरम्भिक प्रयोगों ने गांधी को आम जनता के अत्यंत निकट ला दिया। उसमें ग्रामीण क्षेत्रों के किसान भी थे और शहरी क्षेत्र के मजदूर भी। राष्ट्रीय आंदोलन को यह गांधी जी की एक महान् देन थी। नेताओं में आर्थिक अंतर्दृष्टि थी। उन्होंने बड़ी मेहनत के साथ जनता की गरीबी और दुर्दशा के आंकड़े एकत्रित किये थे। उन्हें विश्वसनीय बनाया था, उसके लिए उन्होंने जो तर्क

प्रस्तुत किये उनका कोई उत्तर नहीं था। लेकिन इस सबके बावजूद कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन शहरों के निम्न और मध्य वर्ग तथा शिक्षित लोगों का विषय था। सक्रिय नेतृत्व उन्हीं से निर्मित हुआ था, यद्यपि उन्होंने जनता के मसलों की वकालत की। गांधी जी के आने के साथ—साथ जनता सहसा आंदोलन की सक्रिय भागीदार बन गई। यह भी कि संभवतया गांधी जी ही एकमात्र नेता थे जिनका व्यक्तित्व ग्रामीण जनता के साथ पूरे तौर पर एकाकार हो गया था। उन्होंने अपने निजी जीवन को जिस ढर्रे पर चलाया उससे ग्रामीण परिचित थे।

उन्होंने उस भाषा का प्रयोग किया जिसे वे आसानी से समझ सकते थे। समय के साथ—साथ वह ग्रामीण भारत में बहुत बड़ी संख्या में रहने वाले भारतीयों के गरीब और दलित वर्ग के प्रतीक बन गये। इस अर्थ में वह भारत के ऐसे सच्चे प्रतिनिधि थे।

हिन्दू—मुस्लिम एकता, छुआछूत का निवारण और स्त्रियों की मर्यादा का उत्थान तीन मसले थे जिनमें गांधी जी की बहुत गहरी रुचि थी। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्यों को 'हरिजन रूप' में संबोधित किया। अपने 'सपनों के भारत' के बारे में उन्होंने एक बार लिखा:

मैं एक ऐसे भारत के लिए काम करूँगा जिसमें गरीब से गरीब लोग यह महसूस करेंगे कि यह देश उनका है, कि उनके निर्माण में उनकी आवाज़ भी प्रभावकारी है। ऐसा भारत जिसमें ऊँची—नीची जाति के लोग नहीं होंगे व उसमें सभी संप्रदायों के लोग पूर्ण सामंजस्य के साथ रहेंगे। ऐसे भारत में छुआ—छात अभिशाप की गुंजाइश नहीं होगी, स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान अधिकार का उपयोग करेंगी। यही है मेरे सपनों का भारत।

जब रौलेट विधेयक पारित हो गया तो एकमत से हुए भारतीय विरोध के बावजूद गांधी जी के धैर्य का बांध टूट गया। उन्होंने फैसला किया कि वह सत्याग्रह के जरिये उसका विरोध करने की कोशिश करेंगे। इस बार के आंदोलन का स्वरूप स्थानीय नहीं होने वाला था। लक्ष्य सीमित नहीं थे। उन्होंने उन दमनकारी कानूनों की अवज्ञा करने के लिए संकल्प के साथ सत्याग्रह सभा शुरू की। सारे देश में 6 अप्रैल, 1919 को आम हड़ताल का आह्वान किया गया। इसके बाद नागरिक अवज्ञा शुरू होने वाली थी। हड़ताल को अभूतपूर्व सफलता मिली लेकिन दिल्ली की एक भीड़ पर पुलिस द्वारा गोली चलाने के कारण बहुत से लोगों की जानें गयीं। उसमें हिन्दू और मुस्लिमान दोनों थे। जब दिल्ली आते हुए गांधी जी को रास्ते में ही रोक दिया गया और फिर उन्हें जबरदस्ती बंबई वापस भेज दिया गया तो पुलिस ने एक बार फिर एकत्रित भीड़ के साथ वैसा ही बर्ताव किया। बहुत सी जगहों पर दंगे भड़क उठे।

और फिर 13 अप्रैल को जलियाँवाला बाग की दुखद दुर्घटना घटी। पंजाब के लोग युद्ध के कर्ज और गवर्नर ओ डायर के सिपाही भर्ती करने के बर्बर तरीके से उत्तेजित थे। मुसलमानों पर खिलाफत के प्रचार का गहरा असर पड़ा था। अनावश्यक घबराहट में सरकार ने डॉक्टर सतपाल

और डॉक्टर सैफुद्दीन किचलु जैसे मुख्य नेताओं को गिरफ्तार करने का आदेश दिया। परिणाम था अमृतसर का जन आक्रोश जहां पुलिस के गोली चलाने के बाद कुछ अधिकारियों की हत्या कर दी गई और दो अंग्रेज़ औरतें बुरी तरह से घायल हो गईं। जब दूसरे दिन जलियांवाला बाग में जनता अवज्ञापूर्वक एकत्रित हुई तो जनरल डायर ने सारे पंजाब में आतंक फैला देने की इच्छा से बिना किसी चेतावनी के अपने सैनिकों को पार्क में एकत्रित निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। जहां से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था। सारा गोला बारुद खत्म होने पर जब जनरल डायर वापस हुआ तो घटनास्थल पर 1,000 लोग मृत पड़े थे और कई हजार घायल हुए। अमृतसर के जनसंहार को मांटेगु तक ने 'निवारक हत्या' कहा था। उसके बाद एक क्रम में मानमर्दन करने वाले आदेश जारी किये गये। हफ्तों कर्फ्यू लागू रहा। लोगों को सार्वजनिक ढंग से कोड़े लगाये गये। उन्हें उस जगह तक रेंग कर पहुंचने को मजबूर किया जहां पर दो अंग्रेज़ स्त्रियों पर आक्रमण हुआ था। हाजिरी देने के लिए छात्रों को प्रतिदिन 16 मील पैदल चल कर पहुंचना होता था। गिरफ्तार व्यक्तियों को कोठरी में नजरबंद कर दिया। बंधक के रूप में व्यक्तियों पकड़ लिया गया। सम्पत्ति जब्त कर दी गई और हिन्दू—मुस्लिमान की एक—एक कलाई जोड़ कर इकट्ठा हथकड़ी लगाई गई ताकि उनको एकता का मज़ा चखाया जा सके। सैनिक कानून की घोषणा की गई रविन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रितानी सरकार से प्राप्त विशेष सम्मान का परित्याग करते हुए घोषणा की:

ऐसा समय आ गया है कि जब सम्मान में मिले बिल्लों ने मानमर्दन के भौंडे संदर्भ में हमारी शर्म को उघाड़ कर दिया है। जहां तक मेरा सवाल है, मैं उन सभी विशिष्टताओं का परित्याग करके अपने उन देशवासियों के साथ खड़ा हूँ जिन्हें तुच्छ समझ कर ऐसे अपमानों द्वारा पीड़ित किया गया है जो मनुष्य के लिए नहीं हैं।

पंजाब की दुर्घटना ने गांधी जी को भारतीय राजनीति के दरवाजे पर खड़ा कर दिया। सरकार द्वारा हंटर की अध्यक्षता में नियुक्त सरकारी समिति का कांग्रेस ने बहिष्कार किया। अब तक के बहुत से नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने भी गांधीवादी शक्तियों के साथ कंधा मिला लिया।

सन् 1919 में अमृतसर में आयोजित देश की मनस्थिति की झलक मिली। चित्तरंजन दास मांटफोर्ड सुधारों को स्वीकार करने के विरुद्ध थे लेकिन तिलक चाहते थे कि अनुक्रियात्मक सहयोग दिया जाए। अंततः एक समझौता हुआ और कांग्रेस इस बात के लिए तैयार हो गई कि सुधारों को इस तरह लागू किया जाये, ताकि एक पूर्णतया जिम्मेदार अर्थात् लोकप्रिय सरकार की शीघ्र स्थापना हो सके, लेकिन चित्तरंजन दास ने अपना रुख स्पष्ट कर दिया। वह "ऐसे किसी सीधे—सीधे अड़ंगे के विरोधी नहीं थे, जो राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हो।"

इस सारे वक्त में गांधी जी धीरे—धीरे उस खिलाफत आंदोलन में खिंचे जा रहे थे जिसके मंच पर उन्हें शीघ्र ही सरकार से असहयोग करना था, जब वह दक्षिण अफ्रीका में थे, तभी से उनके मन में हिन्दू—मुस्लिम एकता को लेकर दिलचस्पी पैदा हो गई थी। उनके अनुसार लखनऊ में एकता का कोई पर्याप्त आधार नहीं बनाया था। उन्होंने अलीबंधुओं से सम्पर्क स्थापित किया था और मानते थे कि खिलाफत की मांग न्यायोचित थी। उन्होंने उनकी गिरफ्तारी का विरोध किया। तुर्की साम्राज्य को खंडित कर देने से, वेरासिलीज की संधि ने आंदोलन की धार को अब तेज कर दिया। अपने बचे हुए राज्य में सुलतान को वास्तविक अधिकार से वंचित कर दिया। भारत के मुस्लिमानों ने ब्रिटेन को तुर्की संबंधी नीति में परिवर्तन के लिए विवश करने का फैसला किया। मौलाना आजाद, हकीम अजमल खां और हसरत मोहनी के नेतृत्व में एक खिलाफत समिति गठित की गई। गांधी जी उसकी सहायता करने को इच्छुक थे। उसके लिए “खिलाफत आंदोलन हिन्दुओं और मुस्लिमानों को एकता में बांधने के लिए ऐसा सुअवसर था, जो सैंकड़ों वर्षों में नहीं आयेगा।” गांधी जी ने मन के इस मिलन को बहुत आसान समझा था। उन्होंने यंग इंडिया में लिखा यदि उनका मामला मुझे न्यायोचित लगता है तो मेरा यह फर्ज है कि मैं उनकी मुसीबत की घड़ियों में भरसक मदद करूं। नवम्बर, 1919 में गांधी जी खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। सम्मेलन में मुसलमानों से कहा गया कि वे मित्र राष्ट्रों की विजय के उपलक्ष्य में आयोजित सार्वजनिक उत्सवों में भाग न लें। धमकी दी कि यदि ब्रिटेन ने तुर्की के साथ न्याय नहीं किया, तो बहिष्कार और असहयोग शुरू होगा। आजाद अकरम खां और फजलुलहक ने खिलाफत और हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थन में बंगाल दौरा किया। देवबंद स्कूल के मौलाना और लखनऊ के उलेमाओं ने उत्तर भारत में यही काम किया। अमृतसर कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने आंदोलन को समर्थन दिया। सन् 1920 के प्रारम्भ में हिन्दुओं और मुसलमानों का एक संयुक्त प्रतिनिधिमंडल वायसराय से मिला, जिन्होंने स्पष्ट रूप में कह दिया कि ऐसी उम्मीद छोड़ देनी चाहिए। एक प्रतिनिधिण्डल उसके बाद इंग्लैंड गया लेकिन प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने संक्षिप्त और रुखा उत्तर दिया कि पराजित ईसाई शक्तियों के साथ किये जाने वाले बर्ताव से भिन्न बर्ताव तुर्की के साथ नहीं किया जाएगा। सेचरेस को संधि की शर्तों का पता मई के मध्य तक चला गया। कांस्टेंटिनपोल तुर्कों के पास रह गया, लेकिन उसके क्षेत्रफल और जनसंख्या में भारी कटौती हो गई। गांधी जी ने सत्याग्रह आंदोलन करने का फैसला किया। असहयोग का वह कार्यक्रम पहली अगस्त को शुरू किया गया।

इसकी सफलता के लिए कांग्रेस का सहयोग अनिवार्य था। लेकिन गांधी जी को अंततः आंदोलन में कूदने के लिए राजनीति करने को एड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ा। गांधी जी की अपील ने नरमदल और गरमदल दोनों ही वर्गों के नेताओं, कार्यकर्ताओं को अकर्षित किया था क्योंकि उन्होंने बड़ी चतुराई के साथ नरमपंथी के ‘साम्राज्य के अंतः स्वराज’ को गरमदल के सहयोग के माध्यम से प्राप्त करने के लक्ष्य से मिला दिया था। यहाँ तक कि क्रांतिकारी आंदोलनकारीयों ने भी उन्हें एक अवसर देना चाहा। गुजरात और बिहार की कांग्रेस समितियां इसे स्वीकृति दे ही चुकी थीं।

अगस्त, 1920 में तिलक के स्वर्गवास के बाद एक सर्वाधिक शंकालु आलोचक क्षेत्र से हट गया। चिंत्तन दास के मन में कुछ आपत्तियाँ थीं, लेकिन गांधी जी की त्याग और बलिदान की बात ने उसकी भावना को तेजी से प्रभावित किया। जब गांधी जी ने विधान परिषदों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव रखा, तो उन्होंने चुनौती देते हुए कहा, “ये सुधार ब्रितानी सरकार के उपहार नहीं हैं। सुधार ब्रितानी सरकारों के हाथों को ऐंठ कर निकाल लिये गये हैं। मैं परिषद् को स्वराज की प्राप्ति का एक अस्त्र बनाना चाहता हूँ। आपके हाथ के कोटर में जो हथियार है उसका इस्तेमाल करके पूर्ण स्वराज लाना चाहता हूँ।” वह परिषद में दाखिल होंगे, लेकिन मदद करने के लिए नहीं बल्कि तंग करने के लिए। यह भीतर से असहयोग करने का एक रूप था। स्कूलों का बहिष्कार करने के वे विरोधी थे, लेकिन मोतीलाल नेहरू ने गांधी जी के पक्ष में पलड़े को भारी कर दिया। एक दूसरा समझौता किया गया स्कूलों और अदालतों का बहिष्कार धीरे-धीरे किया जाने वाला था, लेकिन चुनाव के उम्मीदवारों को अपने नाम वापिस लेना और मतदाताओं को मत देने से इंकार कर देना था। इस बार के लक्ष्यों में भी स्वराज शामिल था। अंतिम निर्णय नागपुर कांग्रेस को करना था।

इस प्रकार नए सुधारों के अंतर्गत पहले चुनाव में कांग्रेस को आंदोलन करने से रोक दिया गया। नागपुर में श्री दास ने इस मुद्दे को खत्म मान लिया। जलियांवाला बाग की दुर्घटना के वक्त वे पंजाब के “गर्वनर ओ डायर” को दी गयी क्षमा और ब्रितानी सरकार द्वारा पूर्णतया जिम्मेदार सरकार की मांग को अस्वीकृत कर दिये जाने से गांधी जी के सुझावों को और बल मिला। श्री दास ने अनुभव किया कि वह अपने साथ बंगाली गुट को भी ले जा पाने में सफल नहीं होंगे। मुहम्मद अली ने समझौते का एक रास्ता दिखाया। श्री दास ने असहयोग का यह प्रस्ताव रखा जिसमें स्वेच्छा से सरकार से सारे संबंध तोड़ लेने और करों की अदायगी न करने की उस समस्त योजना की घोषणा की गई थी, जिसे अमल में लाने के समय का फैसला कांग्रेस को करना था। कार्यालय में परिषदों से त्यागपत्र देने, वकालत के परित्याग, शिक्षा के राष्ट्रीयकरण आर्थिक बहिष्कार राष्ट्रीय सेवा के लिए कार्यकर्ताओं के संगठन, एक राष्ट्रीय कोष की स्थापना और मुस्लिम एकता के लिए कदम उठाने के सुझाव थे। मालवीय जी और जिना ने स्वराज के उद्देश्य का विरोध इस आधार पर किया कि उसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि साम्राज्य से कोई संबंध बनाये रखा जाएगा या नहीं। लेकिन अगले वर्ष में युद्धोन्मुख कार्यक्रम चलाने के गांधी जी के वायदे की जीत हुई, उनके विरुद्ध केवल दो मत पड़े थे।

नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस संगठन को एक नया संविधान देकर उसके ढांचे को इंकलाबी बना दिया। कांग्रेस एक ठोस और प्रभावकारी राजनैतिक संगठन में बदल दिया गया, जिसमें 15 सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति, 350 सदस्यों की एक आखिल भारतीय समिति और ऐसी समितियों की व्यवस्था हुई जिनका संबंध जिलों से लेकर कस्बों, तहसीलों और गांवों तक हो गया। कार्यकारिणी समिति को ऐसा समांगिक आकार दिया जाना था, जिसे बारहों महीने सक्रिय रहना था।

आमतौर पर उसके फैसले का सर्वसम्मत समांगिक आकार दिया जाना था जिसे बारहों महीने सक्रिय रहना था। आमतौर पर उसके फैसले सर्वसम्मत होते थे। बड़े महत्त्व के विषयों पर अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को विचार विमर्श करना था। इस समिति को कार्यकारिणी के फैसलों को समीक्षा करने और उसके निर्णयों को बदल देने तक के अधिकार थे। प्रांतीय समितियों का पुनर्गठन भाषाई आधार पर हुआ था। ये समितियां हर प्रदेश के लिए अलग—अलग थीं। पांच या उससे अधिक कांग्रेस सदस्यों वाले गांव में एक इकाई की स्थापना की व्यवस्था हुई। इसी क्रम में गांव के ऊपर के क्षेत्र तहसील और फिर जिले के लिए भी इकाइयां बनती थीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में ऊपर के क्षेत्र तहसील और फिर जिले के लिए भी इकाइयां बनती थीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में शामिल होने वाले प्रतिनिधियों का चुनाव सदस्यता के आधार पर किया जाना था। अर्थात् 50 हजार सदस्यों पर एक प्रतिनिधि। इस व्यवस्था से कांग्रेस अत्याधिक प्रतिनिधि संस्था बन गई क्योंकि सदस्यता का वार्षिक चंदा केवल 25 पैसा अर्थात् पुराना (चार आना) था। अतः इसके सदस्यों की संख्या में दिन दुगुनी और रात चौगुनी वृद्धि हुई हांलाकि यह सदस्यता भी आवश्यक नहीं थी। सदस्यता के लिए कांग्रेस के लक्ष्यों और सिद्धांतों की स्वीकृति पर्याप्त थी। इसकी वजह से दल भारत के लाखों गरीब लोगों तक पहुँच गया। आयु सीमा को घटाकर 18 वर्ष होने के बाद इसमें और तरुणों आ गई। मुसलमानों और स्त्रियों द्वारा कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने के बाद उनकी संख्या में स्पष्ट वृद्धि हो गई। सन् 1923 तक ग्रामीण सदस्यों की संख्या शहरी क्षेत्रों के सदस्यों से दोगुनी हो गई। आधारभूत परिवर्तन न केवल दल की सामाजिक नाव बल्कि उसके दृष्टिकोण और नीतियों में किया था। सदस्यता अब केवल एक निष्क्रिय काम न होकर एक जीवंत प्रतिबद्धता बन गई थी और उसके लिए त्याग की आवश्यकता बन गयी थी। कांग्रेस राजनीतिक समाजीकरण का एक अस्त्र बन गई। इसने खादी, छुआछूत निवारण, महानिषेध और राष्ट्रीय शिक्षा के काम हाथ में लिये। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग ने शिक्षितों और आम जनता के बीच की दीवार को तोड़ दिया। एक तिलक स्वराज कोष की स्थापना हुई जिसमें 6 महीने के भीतर एक करोड़ से अधिक रुपये इकट्ठा हो गए। इसके कारण संगठन वित्तीय मामलों में निश्चित हो गया। इस प्रकार जनसमर्थन की नींव पर खड़े एक धर्मनिरपेक्ष दल ने गांधी जी के नेतृत्व में एक अद्भुत अस्त्र से साम्राज्यवादियों से संघर्ष करने का फैसला किया। कांग्रेस के सभी उम्मीदवारों द्वारा चुनावों से अपने नाम वापस ले लेने के बाद वकीलों से अदालतों का और जनता से शिक्षण संस्थाओं, विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों का बहिष्कार करने पर जोर दिया गया। श्री दास ने कहा, “शिक्षा प्रतीक्षा कर सकती है स्वराज नहीं।” बहुत बड़ी संख्या में छात्रों ने अपने स्कूल कालेज छोड़ दिये, शिक्षकों ने त्याग पत्र दे दिये। जामिया मिलिया इस्लामिया और काशी बिहार और गुजरात विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय शिक्षण की स्थापना हुई। आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० जाकिर हुसैन और सुभाष चंद्र बोस ने इन राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में अध्यापन का कार्य किया। 30 सितंबर 1921 तक विदेशी कपड़ों के पूर्ण

बहिष्कार का काम पूरा कर दिया जाना था। शताब्दी के पहले दशक में स्वदेशी आंदोलन के दौरान घरानों और सार्वजनिक स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की होली जलाने की घटनाओं की पुनरावृत्ति होनी थी। छात्र समुदाय को राष्ट्रीय स्वयंसेवकों के रूप में संगठित किया। उन्होंने राष्ट्रीय मसले के प्रचार दान की रकम का एकत्रण अंग्रेजों का साथ देने वालों के विरुद्ध प्रधान पंचनिर्णय वाली अदालतों का संचालन और विदेशी वस्तुएं बेचने वाली दुकानों के सामने धरना देने के काम किये।

सारे देश में उत्साह की एक अभुतपूर्व लहर दौड़ गई। बड़े स्त्री और पुरुष, हिन्दू और मुसलमान, रूढ़िवादी, उदारपंथी, परिवर्तनवादी, सभी एक तरह से प्रभावित हुए। औरतों ने पर्दे से बाहर निकल कर बहुत संख्या में संघर्ष में हिस्सा लिया। उन्होंने तिलक कोष में अपने गहने दे दिये और हंसते हुए चली गईं।

खिलाफत समिति ने मुसलमानों से कहा कि वे युद्ध में भर्ती न हों। इसके लिए अलीबंधुओं को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस ने सारे भारतीयों का आह्वान किया कि वे किसी भी रूप में सरकार की सेवा न करें। जैसे हवा तेज हुई, बेरोजगार मजदूर कारखानों के कामगार और शहरों के गरीब आंदोलन में शामिल होते गए। न केवल औद्योगिक केन्द्रों बल्कि आसाम के चाय बागानों में कुछ बड़ी हड़तालें हुईं।

ग्रामीण क्षेत्रों में नया उत्साह और नई उत्तेजना भर गई थी। कांग्रेस के कर का भुगतान न करने के आहवान ने शोषित किसानों के दिल पर जोरदार असर डाला। मिदनापुर के किसानों ने यूनियन बोर्ड का कर देने से इंकार कर दिया। बंगाल में पहली बार किसान संघों की स्थापना हुई। गुट के दुर्गिराला गोपालकृष्णाय्या ने जिस प्रदर्शन का नेतृत्व किया वह आँखें खोल देने वाला था। नगरपालिका को कर चुकाने के आदेश की अवहलेना करते हुए चिराला के सारे लोग एक बस्ती बनाने के लिए चिराला से बाहर निकल आए। बैजवाड़ा में एक समानांतर समिति गठित हुई। पेद्दानदिपाडु के सभी ग्राम आधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिये। 95 प्रतिशत लगानदाताओं ने कर देने से इंकार कर दिया। कृष्णा और गोदावरी जिले में कर न अदा करने का फैसला किया गया। पालनाड ने चराई कर देने से इंकार कर दिया। आंध्र प्रदेश कांग्रेस समिति ने इन कदमों का समर्थन किया गया। अहमदाबाद में कांग्रेस ने कहा कि यदि खादी अहिंसा और हिन्दू मुस्लिम एकता आदि के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति हो रही, तो वह आंदोलन को स्वीकृति देती है। गुट ने रैयत के हस्ताक्षर लेने की शर्त भी पूरी कर दी। उत्तर प्रदेश में रायबरेली और फैजाबाद के काश्तकारों ने गैरकानूनी महसूल देने से इंकार कर दिया। स्वाभाविक था, कि जमींदारों और पुलिस से उनका संघर्ष होता। अदालतों पर धावा बोलने और गिरफ्तार व्यक्तियों को छुड़ाने के प्रयत्न हुए। जवाहर लाल नेहरू ने इसी समय के आस-पास राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश किया था और वे इन घटनाओं से बहुत प्रभावित हुए। कुछ प्रमुख कोयला खानों में हड़तालें हुईं। बिहार में छोटा नगापुर के आदिवासियों ने तानाभगत आंदोलन द्वारा चौकीदारी कर और लगान की अदायगी न करने की धमकी दी।

उड़ीसा में कणिका राज्य के किसानों ने अब बात की अदायगी करने से इंकार कर दिया। पंजाब में गुरुद्वारों की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए अकाली आंदोलन चला। पवित्र मंदिरों पर कब्जा राजनैतिक स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम माना जाता था। मालाबार में मोपलों ने स्थानीय जमींदारों और साहूकारों के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया लेकिन यह दुर्भाग्यवश सांप्रदायिकता के रंग में रंग गया वास्तव में उस वक्त अचानक यह अनुभव हुआ, कि भारत के गांवों में शक्तिशाली राज्य को उलट दिया जा सकता है। सचमुच सरकार विदेशी वस्तुओं की बिक्री कम हो जाने से नहीं घबराई थी। उसे परेशानी सिर्फ इस तथ्य से हुई कि सारे देश में एक जनव्यापी चेतना पैदा हो गई थी।

आंदोलन को वेल्स के राजकुमार के आगमन के बहिष्कार में असाधारण सफलता मिली। बंबई में हड़ताल हुई और समुंद्र तट पर एक सभा की गई, जिसमें गांधी जी ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई। लेकिन भीड़ अनुशासनहीन हो गई और उसने यूरोपियों और उन पारसियों पर आक्रमण किया जिन्होंने राजकुमार के प्रति वफादारी दिखाई थी। पुलिस ने गोली चलाई, दंगे हुए और 53 व्यक्ति मारे गए। कलकत्ता में खिलाफत वालों और पुलिस के बीच के एक संघर्ष के अलावा हड़ताल पूरी तरह सफल रही।

सरकार बहुत परेशान हो गई थी और उसने दमनकारी कदम उठाने का फैसला किया और खिलाफत स्वयंसेवकों के संगठन को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। जनसभाओं और जुलूसों पर प्रतिबंध लग गया। यह संगठन और भाषण की स्वतंत्रता को एक चुनौती थी क्योंकि इसके बिना कोई भी राजनैतिक आंदोलन चल ही नहीं सकता था। श्री दास ने चुनौती को स्वीकार करके आदेश की अवज्ञा करते हुए कहा:

मैं महसूस करता हूँ कि मेरी कलाईयों में हथकड़ियाँ पड़ी हैं और मेरे शरीर पर लोहे की जंजीर का वजन है। पूरा देश ही एक लंबा चौड़ा कारगार है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं पकड़ा जाता हूँ या छोड़ दिया जाता हूँ इससे फर्क पड़ता है कि मैं जीवित हूँ या मर गया हूँ ?

उनकी पत्नी और पुत्र की गिरफ्तारी के बाद हजारों स्वयंसेवकों ने अपना नाम लिखवाना शुरू किया। कलकत्ता की जेल में जितने आदमी आ सकते थे। उससे कई गुना ठूस दिये गए। जेल तीर्थयात्रा का एक पवित्र स्थल बन गया। गुस्से में खीझी हुई पुलिस ने बिना भेदभाव के स्वयंसेवकों को मारा पीटा। बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों के आदेश हुए। कुछ ही महीनों के दौरान में 30 हजार राष्ट्रवादियों को जेल में ठूस दिया गया। श्री दास ने स्वैच्छिक ढंग से अपनी गिरफ्तारी कराई। बाद में मोती लाल नेहरू, लाला लाजपतराय और गोपबंधुदास भी उनके पीछे—पीछे जेल पहुंच गए।

सन् 1921 के अंत तक गांधी जी को छोड़ कर शेष सभी प्रमुख नेता जेल के सीखचों के भीतर थे। कार्यकारिणी ने हर प्रांत को कुछ खास शर्तों पर नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की

अनुमति दी थी। लेकिन मोपला के विद्रोह और बंबई दंगों की वजह से गांधी जी बैचेन हो उठे। वे धीरे-धीरे बढ़ना चाहते थे। उन्होंने आंदोलन को शहरों से, जहाँ अहिंसा सफल हो गई थी, हटाकर गांवों में तेज करने का फैसला किया। अहमदाबाद कांग्रेस ने निजी और सामूहिक दोनों तरह की नागरिक अवज्ञा की स्वीकृति दी। गांधी जी ने 1 फरवरी 1922 को वायसराय को अपनी प्रसिद्ध चुनौती दी—

देश के सामने सिवाय इसके और कोई चारा नहीं है कि वह अपनी मांगों (जिसमें भाषण, संगठन और समाचार पत्रों की स्वतंत्रता के प्रारंभिक अधिकार शामिल हैं) को पूरा करने के लिए अहिंसा का कोई तरीका अपनाये।

गांधी जी ने गुजरात के एक ताल्लुके बारदौली में इसकी आजमाइश की।

युद्ध में, उसके शुरू होने के पहले ही, पराजय हो गई। इसके पहले कि बारदौली में नागरिक अवज्ञा का एक व्यापक जन आंदोलन शुरू किया जाता, उज्जर प्रदेश के चौरी चौरा नाम की जगह पर उत्तेजना की एक घटना घट गई। पुलिस के अंधाधुंध गोलीचालन के जवाब में कुछ किसानों ने पुलिस थाने में आग लगा दी जिससे 22 सिपाहियों की मृत्यु हो गई। बारदौली में शीघ्रता में कार्यकारिणी की बैठक बुलाई गई। गांधी जी के जोर देने पर नागरिक अवज्ञा स्थगित करके एक रचनात्मक कार्यक्रम अपनाने पर सहमति हुई।

बारदौली के फैसले से बहुत से राष्ट्रीय नेताओं की आघात लगा। सुभाष ने, उसे राष्ट्रीय विपत्ति कहा। जवाहर लाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में उसकी चर्चा 'विस्मय और संत्रास' के रूप में की। एम. एन. राय ने उसमें जनता की जगह पर नेतृत्व की दुर्बलता देखी। दूसरे नेताओं ने गांधी जी पर यह आरोप लगाया कि वह जनता के स्वतः प्रेरित राजनैतिक उपक्रम को सीमित करके उसे उच्च वर्ग के जड़ नियंत्रण में छोड़ रहे हैं।

गांधी जी को अपने अनुयायियों के बीच फैसले का औचित्य सिद्ध करने में बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उन्होंने नेहरू जी को विश्वास दिलाया, "यदि स्थगन न हुआ होता तो हम लोगों ने अनिवार्यतया की बजाय एक हिंसक आंदोलन का नेतृत्व किया होता। पीछे हट जाने के इस कदम से हमारा संघर्ष समृद्ध होगा। हम अपने लंगरस्थल पर वापस लौट आये हैं।" जहां तक उनका सवाल है वह बारदौली के पहले की हिंसक जन उत्तेजना के पर्याप्त प्रणाम दे सकते थे। बार बार के स्थगन द्वारा उन्होंने चेतावनी दी थी कि वह सत्याग्रह के पवित्र सिद्धांत की बलि देकर स्वराज नहीं लेंगे। वे एक सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे। वे जानते थे कि हिंसा की बागडोर ढीली करने के बाद कौन जीतेगा ?

घटना आक्रोश

इस सारे समय में लार्ड रीडिंग ने सेवेरिस की संधि में खलीफा के पक्ष में संशोधन करके कांग्रेस और खिलाफतियों के बीच फूट पैदा करने की कोशिश की थी। जब तक आंदोलन विघटित होना शुरू नहीं हुआ, उन्होंने गांधी जी की गिरफ्तारी को स्थापित रखा। उनकी दृष्टि में बारदौली के प्रस्ताव ने, “संगठन को बिना उद्देश्य को स्पष्टतया परिभाषित किये या समझे जा सकने योग्य बनाये हुए छोड़ दिया था।” उस क्षण से ही दल में विघटन और विच्छेदन का प्रारम्भ हुआ। उत्साह भाप की तरह उड़ गया। मोहभंग और उत्साहहीनता आई। उन्होंने 10 मार्च 1922 को गांधी जी को गिरफ्तार कराया और उन पर सरकार के विरुद्ध द्वेष का अभियोग लगाया।

गांधी जी ने अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करने के सिलसिले में जो तर्क दिये, उनकी वजह से मुकद्दमा ऐतिहासिक हो गया हालांकि उन्होंने स्वयं अभियोग स्वीकार कर लिया। अपने बयान में उन्होंने विस्तार के साथ यह बताया कि ब्रितानी सरकार के एक वफादार समर्थक और प्रशंसक होकर भी किस तरह भारत के ब्रितानी शासन के साथ समझौते न करने वाले आलोचक और विरोधी में बदल गये। उन्होंने कहा:

न चाहते हुए भी मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि संबंधों ने भारत को राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से इतना असहाय बना दिया जितना वह पहले कभी नहीं था। एक निहत्थे भारत में आक्रमण का मुकाबला करने की शक्ति नहीं है। वह इतना गरीब हो गया है कि अकाल तक का मुकाबला करने के लिए उसके पास अत्यंत क्षीण शक्ति है। शहरों में रहने वाले नहीं जानते कि किस तरह आधा पेट भोजन करने वाली जनता धीरे-धीरे मृत्यु के निकट पहुंच रही है। वे नहीं जानते कि उनका दुखमय सुख परिणाम है उस दस्तूरी का, जिसे वे विदेशी शोषकों का काम करके प्राप्त करते हैं, लाभ और दस्तूरी दोनों ही जनता से निचोड़ी जाती है। वे नहीं महसूस करते कि कानून द्वारा भारत में स्थापित ब्रितानी सरकार जनता का शोषण करने के लिए ही चल रही है। आंकड़ों का कोई कुतर्क, कोई बाजीगरी इस प्रणाम को गलत नहीं सिद्ध कर सकती कि बहुत से गांवों में नरककाल पड़े हुए हैं। खुली आंखों से देखने के लिए मेरे विचार से कानून के शासन से, जान बूझकर या अनजाने में शासकों के लाभ के लिए वेश्यावृत्ति करायी जा रही है। बड़ा दुर्भाग्य यह है कि प्रशासन से सम्बद्ध अंग्रेज या उसके भारतीय सहयोगी नहीं जानते कि उनसे वह अपराध कराया जा रहा है, जिसके बारे में मैंने बताने की कोशिश की है। मुझे संतोष

है कि बहुत से अंग्रेज और भारतीय अधिकारी ईमानदारी पूर्वक यह विश्वास करते हैं कि वे संसार की एक सर्वोत्कृष्ट राज्य प्रणाली का प्रशासन कर रहे हैं और भारत सुस्थिर ढंग से लेकिन धीरे प्रगति कर रहा है। वे नहीं जानते कि एक तरफ एक सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण आंतकवादी तरीके तथा शक्ति के संगठित प्रदर्शन और दूसरी तरफ प्रतिरोध या आत्मरक्षा के सारे साधनों से जनता को वंचित करके उसे नितांत दुर्बल दिया गया है। उसमें सचमुच ही ढोंग की आदत पैदा कर दी गई है।

अपने वक्तव्य का समापन करते हुए उन्होंने कहा कि उनका विश्वास है, कि बुराई से असहयोग करना वैसा ही फर्ज है, जैसा अच्छाई से सहयोग। उन्होंने अदालत में मांग की, “कानून के अन्तर्गत जिसे जान बूझकर किया गया अपराध माना जाता है। उसके लिए बड़ी से बड़ी जो भी सजा दी जा सकती है मुझे दी जाए। मुझे एक नागरिक का सबसे बड़ा कर्तव्य लगता है।”

मुकद्दमों की सुनवाई करने वाले न्यायाधीश ब्रुमफील्ड ने स्वीकार करते हुए कहा, “यह तथ्य है कि आप अपने देश के लाखों लोगों की निगाह में एक महान् देशभक्त और नेता हैं। लेकिन अदालत की निगाह में कानून तोड़ने और उसकी आत्मस्वीकृति करने वाले व्यक्ति गांधी जी को 6 साल की जेल की सजा दी जाती है, वही सजा जो सन् 1908 में लोकमान्य तिलक को दी थी।”

अधिकतर नेताओं के जेल में होने के कारण पहला असहयोग आंदोलन बिना जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के ही खत्म हो गया। उसके शीघ्र ही खिलाफत का प्रश्न भी महत्वपूर्ण नहीं रह गया। तुर्कों में मुस्तफा कमाल पाशा का शासन हो गया और नवम्बर सन् 1922 में सुल्तान के सारे राजनीतिक अधिकार छीन लिए गए। कमालपाशा ने तुर्कों का आधुनिकीकरण और उसे धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने का काम शुरू किया। खिलाफत की परम्परा भी समाप्त कर दी गई।

खिलाफत आंदोलन और उसे गांधी जी तथा अन्य नेताओं द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने के तरीके पर दो राय हो सकती हैं। कुछ लोग महसूस करते हैं कि वह सुविचारित नहीं था, प्रतिगामी था। क्योंकि अंततः एक समय उसने एक राजनीतिक आंदोलन में धार्मिक भावधारा का समावेश किया। उससे हिन्दू मुस्लिम एकता की उपलब्धि नहीं हुई। इन्हीं कारणों से लोग तर्क देते हैं कि समावेश किया कि खिलाफत आंदोलन एक भूल थी दूसरे यह महसूस करते हैं कि आंदोलन ने नेताओं को मुसलमानों को यह विश्वास दिलाने का सुअवसर दिया कि राष्ट्र उन समस्याओं के प्रति भी चिंतित है जिनसे वे प्रभावित हैं सुअवसर था और इसका इस्तेमाल किया जाना चाहिए था।

पुनरावलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि खिलाफत आंदोलन ने निश्चय ही शहरी मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक किया। उस समय सभी वर्गों के लोगों में आंदोलन के

प्रति लगाव का बोध जगा था। व्यापक स्तर पर उत्साह था और इसका एक बड़ा कारण खिलाफत ही था। यह भी सही है कि एक राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा केवल एक ही संप्रदाय के लोगों को प्रभावित करने वाले मसलों की पैरवी सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत नहीं है। राष्ट्रीय आंदोलन और खिलाफत आंदोलन दोनों में साम्राज्यवाद विरोधी तत्व प्रबल थे। यदि सारे देश के राजनैतिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि के उद्देश्य से इस समान विशिष्टता का उपयोग साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने की दोनों वर्गों की इच्छा से उत्पन्न करने में किया गया होता तब उसमें कोई भूल नहीं हुई होती। देश में दमन के कदमों और तुर्की की घटनाओं ने इन अंतिम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आंदोलन को सफल न होने का षडयंत्र किया हालाँकि देश के राष्ट्रीय नेतृत्व ने तुर्कों में धर्मनिरपेक्ष और साम्राज्यवाद विरोधी की स्थापना का स्वागत किया।

यह नतीजा निकालना भी एक भूल होगी कि यह असहयोग आंदोलन असफल रहा। जनता में, उसकी आर्थिक समस्याओं और राजनैतिक मसलों विशेषकर साम्राज्यवाद की चेतना जगाने में निश्चय ही उस आंदोलन की देन है। यहां तक सीधे सादे ग्रामीणों ने भी यह महसूस करना शुरू किया कि उनकी तकलीफों को दूर करने की सबसे अच्छी दवा स्वराज है। राष्ट्रीय—संघर्ष हिस्सा लेकर उन्होंने स्वधीनता के एक नए बोध का अनुभव किया। राज के डर पर विजय पा ली गई थी। साधारण लोगों ने स्त्रियों और पुरुषों ने, धनिक और गरीब ने सरकार की अवज्ञा करके दंड रूप में तकलीफें बर्दाश्त करने की इच्छा और क्षमता दिखाई। छुआ—छूत और मद्यपान जैसी सामाजिक बुराईयों को भी अधिक तीव्रता के साथ स्वीकार किया जाने लगा था। खादी पर बल देना गांवों की आवश्यकताओं का एक वास्तविक मूल्यांकन था। विदेशी शासकों और सरकार की खुली अवज्ञा करने के प्रयत्न में उन्हें जो अनुभव मिले उनसे आत्मविश्वास और आत्मभिमान का एक नया बोध पैदा हुआ, जिसने पलायन के अपमान को धो दिया। इसकी असफलता का बहुत महत्व नहीं था, क्योंकि वह केवल अस्थायी ही हो सकती थी। गांधी जी ने स्वयं व्याख्या की जो संघर्ष 1920 में शुरू हुआ वह निर्णयात्मक संघर्ष है, चाहे वह एक महीना या एक साल चले चाहे कई महीने या कई वर्षों तक।

स्वराजी

जब जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन स्थापित कर दिया गया, तो बहुत बड़े पैमाने पर निराशा फैली। उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय संघर्ष का उत्साह अचानक तितर बितर हो गया। लोगों का मोह भंग तक हो गया था और सत्याग्रह के औचित्य के बारे में प्रश्न पूछे जाने लगे थे। क्या लाखों करोड़ों की संख्या में लोगों को अहिंसा कला का प्रशिक्षण देना संभव था ? यदि ये संभव भी था, जो उसमें कितना वक्त लगना था, बहुत से नेताओं के जेल में होने से दल के नीचे से लेकर ऊपर तक के लोगों ने महसूस किया कि वे विसंगठित हो गए हैं।

ऐसे वक्त पर चित्तरंजन दास और मोती लाल नेहरू ने एक नया नेतृत्व दिया। जब नागरिक अवज्ञा जांच समिति ने रपट दी कि देश अभी भी एक आम और जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन चलाने के लिए तैयार नहीं है, और रचनात्मक कार्यक्रमों को केवल सीमित सहमति मिली है तब श्री दास और मोती लाल नेहरू ने सुझाव दिया, कि विधान परिषदों का बहिष्कार करने के बदले असहयोग का आंदोलन उनके भीतर ही चलाया गया। उन्होंने परिषदों में दाखिल होने सुझाव दिया ताकि भीतर के सुधारों को क्रियान्वित करना असंभव कर दिया जाए। इस सुझाव को बहुत से कांग्रेसियों का तात्कालिक समर्थन मिला लेकिन राजगोपालाचार्य राजेन्द्र प्रसाद और वल्लभभाई पटेल जैसे कट्टर गांधीवादी बहिष्कार को चलाते रहने के पक्ष में रहे नेताओं में दो गुट हो गए। एक को परिवर्तन समर्थक और दूसरे को यथार्थवादी कहा गया। दिसम्बर 1922 में कांग्रेस के गया अधिवेशन में प्रश्न उभर कर सामने आए। अध्यक्ष की हैसियत से चित्तरंजन दास ने सशक्त ढंग में परिषद में प्रवेश करने की वकालत की लेकिन जीत राजाजी के गुट की हुई चित्तरंजन दास ने त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने मोती लाल नेहरू, विट्ठल भाई पटेल मालवीय जी और जयकर के साथ मिलकर कांग्रेस के भीतर एक नया दल बनाया नाम रखा गया 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज दल' चित्तरंजन दास अध्यक्ष हुए मोती लाल नेहरू सचिवों में से एक थे।

नये दल ने अहिंसा और असहयोग के अनिवार्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखा इसने संविधान बनाने के अधिकार की मांग का प्रस्ताव रखा और इंकार किये जाने पर विधानसभाओं और परिषदों में सरकार का काम असंभव कर देने के लिए एक तरह की क्रमबद्ध और अविचल गतिरोध पैदा करने वाली नीति अपनाने का निर्णय किया। चित्तरंजन दास की कल्पना और भावानुकूलता ने मोती लाल की तटस्थवादिता और दृढ़ता से मिलकर दोनों के बीच की कमजोरियों को खत्म कर दिया। उन्होंने नवम्बर 1923 में चुनाव लड़ा और तैयारी का बहुत कम समय मिल पाने के बावजूद उदारपंथियों का व्यावहारिक अर्थों में सफाया कर दिया। मध्य प्रांत से उन्हें पूर्ण बहुमत मिला। बंगाल में वह सबसे बड़ा दल था। उज्जर प्रदेश और आसाम में दूसरे सबसे बड़े दल का स्थान मिला। हालांकि दूसरे राज्यों में उनकी उपलब्धि अच्छी नहीं रही केन्द्रीय विधान परिषद में उन्होंने 101 में से 42 स्थानों पर कब्जा किया।

लेकिन यथार्थवादी नेता स्वराजियों के दृष्टिकोण की सत्यता में अभी भी विश्वास नहीं करते थे। दोनों गुटों के बीच एक भयंकर राजनैतिक विवाद उठ खड़ा हुआ, लेकिन दोनों ही गुट गांधी जी और कांग्रेस के प्रति निष्ठावान बने रहे। दोनों ही साम्राज्यवाद विरोधी और विश्वास तथा विचार से सच्चे राष्ट्रीयवादी थे। अतः परिषद प्रवेश के प्रश्न पर मतभेदों के बावजूद उन्होंने एक—दूसरे के प्रति आदर भाव बनाये रखा और दल की एकता को कोई खतरा पैदा नहीं हुआ।

केन्द्रीय विधान परिषद में स्वराजियों ने 30 नरमपंथी और मुसलमान सदस्यों को मिलाकर एक राष्ट्रवादी दल बनाया। प्रांतीय परिषद में उन्होंने ऐसी ही व्यवस्था की। उन्होंने सभी राजनैतिक

बंदियों की रिहाई दमनकारी कानूनों की समाप्ति प्रांतीय स्वायत्तता और परिषद द्वारा सरकार पर पूरा नियंत्रण रखने की योजना बनाने के लिए शीघ्र ही एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित करने की मांग की। उन्होंने धमकी दी कि यदि सरकार ने मांगों का अमल नहीं किया तो वे आपूर्ति पर मत देने से इंकार करके प्रशासन को ठप्प करने की स्थिति में ला देंगे।

शुरू में नरमपंथियों और हिन्दू तथा मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों ने केन्द्रीय विधान—परिषद में नजरबंदों और राजनैतिक कैदियों की रिहाई तथा दमनकारी कानूनों को खत्म करने की सिफारिश वाले प्रस्तावों पर स्वराजियों से सहयोग किया। मार्च 1925 में वे गुजरात के एक प्रमुख राष्ट्रवादी विट्ठलभाई पटेल को केन्द्रीय विधान—परिषद के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित कराने में सफल रहे।

लेकिन स्वराजी कुछ अधिक पा सकने में सफल नहीं हुए और उन्होंने मार्च 1926 में केन्द्रीय विधान परिषद से बहिर्गमन करने का फैसला किया। मोती लाल ने कहा हमने जो सहयोग दिया। उसे तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया गया। अब अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के दूसरे तरीके के बारे में सोचने का समय आ गया है।

सन् 1923 के प्रारम्भ में ब्रिटेन में लेबर दल सरकार ने सत्ता संभाल ली। लेकिन उसका कार्यकाल बहुत कम दिनों का रहा। हालांकि सत्तारुढ़ होने के दौरान भी उसके पास भारत के लिए कोई निश्चित योजना नहीं थी। बाल्डविन के नेतृत्व में कनजरवेटिव दल की सत्ता में वापसी के लार्ड बर्केनहेड इंडिया आफिस के प्रमुख हुए। मंत्रिमंडल के शेष सदस्यों की ही तरह उन्होंने सोचा कि मांटेगु चेम्सफोर्ड सुधार आवश्यकता से भी काफी है और कुछ दिनों के लिए और सुधारों की अनुमति देना बुद्धिमतापूर्ण नहीं होगा। वे यह नहीं सोच सके कि किस प्रकार भारत औपनिवेशिक राज्य का दर्जा पाने के योग्य हो सकेगा? उन्होंने सन् 1919 के विधेयक में पारित स्थितियों की पुनः परीक्षा के दस वर्ष के समय के प्रस्ताव पर सख्ती से अमल करना चाहा।

इसी बीच राजनैतिक निष्क्रियता और निराशा से सम्पन्न होती हुई साम्प्रदायिकता ने देश में सिर उठाना शुरू कर दिया था। यहां तक कि स्वराजी भी उसके कीटाणुओं के प्रभाव से मुक्त नहीं रहे। कुछ सदस्यों ने जिसमें मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय और एन. सी. केलकर शामिल थे। अनुक्रियावादियों का अपना गुट बनाया और सरकार को सहयोग देने की बात की इस रूप में वे हिन्दूओं के हितों की रक्षा कर रहे थे। यह बहुत दुखद था कि इसी समय जून 1925 में अचानक चित्तरंजन दास का देहांत हो गया।

मुस्लिम लीग और सन् 1917 में स्थापित हिन्दू महासभा एक बार फिर सक्रिय हो गई। दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद और नागपुर में साज्जदायिक दंगे भड़क उठे। गांधी जी दुर्बल स्वास्थ्य के कारण 5 फरवरी, 1924 को जेल से छूट गए थे। उन्होंने उसी साल सितम्बर में 21 दिन का उपवास करके दंगों में प्रदर्शित अमानुषिकता पर पश्चा ताप करने और साम्प्रदायिक कीटाणुओं के प्रसार को रोकने की कोशिश की लेकिन उसका बहुत कम असर हुआ।

उपवास के फलस्वरूप एकता सम्मेलन हुए लेकिन सदभाव की परिस्थिति नहीं पैदा हो सकी। अगले दो वर्षों में साम्प्रदायिकता का प्रसार और भयंकर ढंग से हुआ। 1925 में कम से कम 16 दंगे हुए सन् 1926 के कलकत्ता के दंगे सबसे भयंकर रहे। ये दंगे बड़े शहरों से हटकर छोटे कस्बों में फैल रहे थे। साइमन आयोग ने सन् 1922 और 1927 के बीच का घटित 112 साम्प्रदायिक दंगों का उल्लेख किया, जिसमें 450 व्यक्तियों की जानें गईं और 5,000 लोग जख्मी हुए। सन् 1927 का वर्ष निराशा का वर्ष था। मोती लाल और आज़ाद ने सभी दलों से साम्प्रदायिक राजनीति से दूर रहने का आश्वासन लेने का प्रयत्न किया, लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली। बढ़ती हुई इस हिंसा के बीच गांधी जी ने अपने को असहाय पाया। उन्होंने पीड़ा के साथ लिखा मेरी एकमात्र आशा प्रार्थना में और उसके उत्तर में निहित है।

नयी अवस्था का प्रारम्भ

सन् 1928 तक ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष ने एक नई अवस्था में प्रवेश किया। इसके पहले के पांच वर्षों में ब्रितानी सरकार साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन का मुकाबला राजनैतिक दमन को तेज करके किया था। असहयोग आंदोलन स्थगित कर देने के निर्णय के बाद कांग्रेस के भीतर स्वराजियों और उन रचनात्मक कार्यकर्ताओं के बीच तनाव बढ़ गए थे, जो परिषदों के बहिष्कार के मूल निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साम्प्रदायों को धार्मिक कट्टरपंथियों के बीच धार्मिक आंदोलन तेज हो गया। प्रमाण के लिए हिन्दूओं में पवित्रता संगठन और शुद्धि का आंदोलन तथा मुसलमानों दोनों ही तनमीज और तबलीग आंदोलन जिसका मतलब है कि धर्म परिवर्तन और पुनः धर्म परिवर्तन दोनों ही ओर के धार्मिक कहरवादियों में बढ़ने लगे थे। इन्होंने साम्प्रदायिक सदभाव को पुनः स्थापित करने में मदद नहीं की। दोनों ही ओर अविश्वास और संदेश था।

भारत के विभिन्न भागों में मजदूर वर्ग भी उन्नत और पिछड़े हुए गुटों में बंट गया था। अपेक्षाकृत युवा पीढ़ी को उन सामाजिक आदर्शों की जानकारी थी, जो सोवियत संघ से निःसृत हो रही थी। सोवियत संघ ने सन् 1927 में अपनी दसवीं वर्षगांठ मनाई थी। निष्ठावान किस्म के राजनैतिक कार्यकर्ताओं के छोटे-छोटे गुटों ने कुछ नगरों कस्बों में (मुख्यतया महाराष्ट्र और पूर्वी उत्तर प्रदेश के शहरों और पंजाब के गाँवों के किसानों में) औद्योगिक मजदूरों को साम्यवाद की अपनी निजी परिभाषा से परिचित कराना शुरू किया। उनका एक उद्देश्य यह था कि मध्यम वर्ग की ओर अधिक झुकी हुई कांग्रेस को (उनके अनुसार कांग्रेस वितरण जैसी मानवीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी वैधानिक सुधारों की अपनी मांग के साथ जोड़ना चाहिए। उन्होंने एक ऐसे राजनैतिक कार्यक्रम को भी स्वीकृत करना चाहा जो कांग्रेस के कार्यक्रम से अधिक परिवर्तनवादी हो।

दूसरी तरफ वर्गीय राजनीति के गुटों ने भी मजदूरों और गरीब किसानों से सम्पर्क स्थापित करना शुरू कर दिया था। इन गुटों ने मुख्य रूप से साम्प्रदायिक हितों पर बल दिया और गरीब मुसलमान किसानों, शहरी मजदूरों और निचली जाति के हिन्दुओं को प्रभावित करने की कोशिश की। उन्होंने रियासतों, विधान परिषदों में राजनीतिक प्रतिनिधित्व, शिक्षा में विशेष अभिवृद्धि और समाज कल्याण की सुविधाओं की मांग की। उन्होंने यह इच्छा भी व्यक्त की कि एक जनतांत्रिक समाज में उनके साथ समानता का व्यवहार हो। यह भावना खास तौर पर हरिजनों, दलित जातियों और पूर्व बंगाल के नामशूद्रों जैसे किसानों के कुछ वर्गों में पाई गई। उनका तरीका सरकार से सीधी बातचीत करने का था और सरकार (जैसा कि वह पहले से ही करती आ रही थी) फूट डालो और राज करो की नीति पर अभी भी चलती रही। अंततः मद्रास में जस्टिस पार्टी ने गैर—ब्राह्मणों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के दावे के साथ कांग्रेस का विरोध किया। उसके अनुसार कांग्रेस पर ब्राह्मणों का नियंत्रण था।

गांधी जी और अनुयायियों ने सचमुच ही अस्पृश्यता के संस्थान को ध्वस्त करने की कोशिश की ताकि हिन्दू धर्म के भीतर की सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को काटा जा सके। कम्युनिस्ट आंदोलन ने मुख्यता बंबई में, मजदूरों को सांप्रदायिक भावना से मुक्त करने की कोशिश की ताकि पृथक्तावाद की प्रवृत्ति समाप्त हो और वे एक वर्ग में आ जायें। बहरहाल सन् 1920 और 1930 के बीच साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के भीतर के राजनैतिक मतभेद, बहुत से वर्गों में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता की भावना और सरकार द्वारा गैर—कांग्रेसी राजनैतिक गुटों को प्रोत्साहन और प्रलोभन दिये जाने के परिणामस्वरूप ऐसी प्रवृत्तियां पैदा हुईं जिन्होंने समाज को विभिन्न वर्गों और गुटों में छिन्न—भिन्न कर देने का खतरा पैदा किया। इन प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर बनाया।

लेकिन इस सबके बावजूद नवंबर, 1927 में एकता का एक नया आधार पैदा हुआ। लंदन से ब्रितानी मंत्रिमंडल ने घोषणा की कि नियत समय से दो साल पहले ही एक शाही आयोग की नियुक्ति का निर्णय किया गया है जो यह समीक्षा करेगा कि भारत और अधिक सुधारों तथा संसदीय जनतंत्र के योग्य हुआ है या नहीं। आयोग के अध्यक्ष हुए एक अंग्रेज राजनीतिक सर जान साइमन और इस प्रकार आम तौर पर उसे साइमन आयोग की संज्ञा दी गई। उसके सातों सदस्यों में से कोई भी भारतीय नहीं था।

साम्राज्यवादियों की उम्मीद थी कि सुधारों के प्रस्तावों पर नियत समय से दो साल पहले कार्य शुरू करके राष्ट्रीय आंदोलन को बढ़ने से रोक दिया जाएगा। लेकिन घोषणा के बाद आक्रोश की जो लहर उठी उसने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। सन् 1927 के मद्रास अधिवेशन के कांग्रेस के अध्यक्ष एम. एन. अंसारी ने घोषणा की कि कांग्रेस आयोग की जांच के कार्य का बहिष्कार करेगी। कहा गया, “भारतीय जनता को यह अधिकार है कि वह सभी संबंधित गुटों का एक गोलमेज सम्मेलन या संसद का सम्मेलन बुला कर अपने संविधान का निर्णय कर सके। साइमन आयोग की

नियुक्ति द्वारा निश्चय ही उस दावे को नकार दिया गया है। लोकप्रिय सरकार की स्थापना में उठाये जाने वाले किसी कदम या स्वराज संबंधी अपनी योग्यता—अयोग्यता की जांच पड़ताल में निरपेक्ष हम नहीं हो सकते। निस्संदेह बहिष्कार का तीसरा कारण यह है कि आयोग में जानबूझ कर भारतीयों को शामिल न करके उनके आत्मसम्मान को आहत किया गया है।”

कांग्रेस ने पहले और दूसरे कारण पर बल दिया। लेकिन भारतीयों के आत्मसम्मान को आहत करने वाले तीसरे कारण ने तेज बहादूर स्यू जैसे बहुत से उदारवादियों को आकर्षित किया। श्री स्यू ने व्यापक ढंग से सरकार से सहयोग करके बड़े परिश्रम से संसदीय संस्थान और व्यवहार की जानकारी प्राप्त की थी। अतः कांग्रेस, उदारवादी संघ और प्रारंभ में मुस्लिम लीग तक ने साइमन आयोग का बहिष्कार करने का निर्णय किया। आयोग (जांच के सिलसिले में) जहां भी गया, वहां पर कांग्रेस ने ‘साइमन लौट जाओ’ के नारे लगाये। इस विधि ने राष्ट्रीय संघर्ष में एकता का एक बंधन पैदा किया। हालांकि इसका कारण राजनैतिक कार्यक्रमों में सामाजिक मिलाप या एकरूपता नहीं बल्कि साम्राज्यवादी नीतियों का समान विरोध था। 3 फरवरी, 1928 को जब आयोग बंबई में उतरा तो उसे एक वृहत् जुलूस का सामना करना पड़ा जो ‘साइमन वापस जाओ’ की तख्तियां और काले झंडों के साथ बढ़ रहा था। चौपाटी पर शाम की एक सभा में 50 हजार लोगों के बीच विभिन्न दलों ने मंत्रिमंडल के निर्णय की निंदा की। केवल नयी दिल्ली की राज्यों की परिषद ने बहुमत से आयोग को समर्थन देने को हामी भरी। इस परिषद में बहुत दूर तक सदस्यों का मनोनयन सरकार द्वारा हुआ था।

इसी के साथ राष्ट्रीय संघर्ष से मजदूरों का लगाव भी बढ़ा यद्यपि बल मजदूर संघ के आंदोलन और मजदूरों की हालत में सुधार करने पर था। सन् 1927 में बंबई में, मजदूरों और किसानों ने शासन को न्यूनतम जोतबंदी (संशोधन) विधेयक को स्थापित करने के लिए विवश कर दिया। विधेयक से सम्पन्न किसानों को अपनी जोत सीमा बढ़ाने का अनुमति मिल गई होती, फलस्वरूप स्थानीय खेतिहर पहले से पूरी तौर पर एक निजी ब्रितानी व्यापारिक संस्थान था) के खड़गपुर स्थित लोकोमोटिव (मरम्मत तथा रखरखाव) कारखाने में कम मजदूरों और कंपनी अधिकारियों के स्वैच्छिक आदेशों के विरुद्ध मजदूरों ने जो आंदोलन किया, वह आम हड़ताल में बदल गया। हड़ताल को जवाहर लाल नेहरू और मजदूर संघों के संगठनकर्ता और उभरते हुए मजदूर नेता वी. वी. गिरि के अलावा बहुत से राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन प्राप्त था। जवाहर लाल नेहरू, जिन्हें उस वक्त वामपंथी भारतीय युवकों का ठोस समर्थन प्राप्त हो चुका था, साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद विरोधी संघर्ष समिति के सदस्य बन गये। इस समिति की स्थापना यूरोप में हुई थी। वह मास्को में रूस द्वारा स्थापित दुनिया के मजदूरों के तीसरे अंतर्राष्ट्रीय (संगठन) के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी।

समाजवादी विचारधारा के प्रति आकर्षित वामोन्मुख नेताओं और कार्यकर्ताओं को साइमन आयोग के बहिष्कार से सहानुभूति थी। सन् 1928—29 के जन आंदोलन के मजदूरों ने हिस्सा लिया

और उससे प्रदर्शन शक्तिशाली हुआ। 'साइमन लौट जाओ' के प्रदर्शन के परिणामस्वरूप छात्र संघ का जन्म हुआ। इस संगठन ने पहली बार कॉलेज के छात्रों के मन में राष्ट्रवादी और समाजवादी चेतना पैदा की।

नेतृत्व के स्तर पर बहिष्कार के फलस्वरूप समानांतर ढंग से भारतीय संविधान की योजनाएं बनाने के प्रयत्न हुए। सन् 1927 में मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में जवाहर लाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत और सुभाष चंद्र बोस के गुट द्वारा समर्थित यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि कांग्रेस का अंतिम लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है। भारतीय मामलों के मंत्री लार्ड बर्केनहेड ने चुनौती देते हुए स्वराज पार्टी से कहा था, "वह एक ऐसा संविधान तैयार करे जिसमें ऐसी व्यवस्थाएं हो कि भारत की (महान्) जनता आमतौर पर उससे सहमति" व्यक्त करे। इस अधिवेशन में इस मुद्दे को भी लिया गया। इसका अर्थ था कि ब्रितानी सरकार ने साम्राज्यवाद के अंतर्गत शासन के एक नये ढांचे की स्वीकृति दे दी थी। अंततः अगस्त, 1928 में कांग्रेस कार्यकारिणी, अखिल भारतीय उदारपंथी संघ, मुस्लिम लीग तथा दूसरे संगठन के नेता लखनऊ में मिले। वहां पर एक सर्वदलीय अधिवेशन की ओर से कुशल स्वराजी नेता मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति द्वारा संविधान का प्रारूप तैयार करने को स्वीकृति दी गयी।

मोती लाल नेहरू की रिपोर्ट

इस रिपोर्ट में जिम्मेदार या लोकप्रिय सरकार की व्यवस्था थी। अर्थात् कार्यपालिका पर जनता द्वारा निर्वाचित विधायिका की सर्वोच्चता। ब्रितानी भारत में उन दिनों वही सर्वोपरि थी। उसमें सदनों वाली सर्वोच्च संसद की व्यवस्था थी जिसे स्वायत्तता के वे ही अधिकार प्राप्त थे जो ब्रितानी साम्राज्य के अंतर्गत आस्ट्रेलिया और कनाडा के औपनिवेशिक सदनों के पास थे। व्यवस्थापिका सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रांतीय परिषदों द्वारा निर्वाचित 200 सदस्य होने थे। प्रतिनिधि सभा में बालिग मताधिकारी के आधार पर निर्वाचित 500 सदस्य होने थे। बंगाल में मुसलमानों और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में गैर—मुसलमानों के अलावा संसद में किसी भी तरह का विशेष सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व नहीं था। प्रांतीय परिषदों में अल्पसंख्यकों के लिए जनसंख्या के आधार पर विशेष आरक्षण होना था। चूंकि पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था, अतः वहां अपवाद के रूप में पर व्यवस्था होनी थी। इन दोनों क्षेत्रों में स्थानों का कोई आरक्षण नहीं होना था। प्रतिनिधित्व के लिए बालिग मताधिकार के आधार पर होना था।

मोती लाल की रिपोर्ट से सन् 1928 के पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसी नेताओं के रूढ़िवादी दृष्टिकोण का आभास मिलता है। युवा पीढ़ी की पूर्ण स्वराज्य की मांग को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह अर्थ लगाया कि वे साम्राज्य के अंतर्गत एक औपनिवेशिक दर्जा चाहते हैं। वे समग्र के रूप में धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक सिद्धांतों को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने सांप्रदायिकता के प्रश्न को

बिना किसी समझौते को दो टूक ढँप से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। केन्द्रीय संसद और प्रांतीय परिषद दोनों में सभी नागरिकों के लिये समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को अपवाद रूप में स्वीकार किया गया। वास्तव में केवल इसी प्रकार के प्रस्तावों से वे राष्ट्रवादी मुसलमान संतुष्ट हो गये होते जो कांग्रेस में शामिल नहीं हुए थे और जिन्होंने विपुल हिन्दू बहुमत पर विश्वास करने को तैयार होने के लिये जमानत के रूप में अपने अल्पसंख्यक हितों के संरक्षण की व्यवस्था चाही।

मुस्लिम लीग तो और कट्टरपंथी थी। उससे संघर्ष की स्थिति दिसंबर, 1928 में आई। जिस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था, उसी वक्त नेहरू रिपोर्ट पर स्वीकृति की मुहर लगाने के लिए कलकत्ता में ही सर्वदलीय स मेलेन हुआ। सन् 1921 तक के कांग्रेसी और अब एक प्रमुख सांप्रदायिकतावादी नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने संसद के दोनों सदनों तथा बंगाल और पंजाब की प्रांतीय परिषदों में मुसलमान बहुसंख्या में हैं। वे अपने विधायी अधिकारों का इस्तेमाल करके शिक्षा, रोजगार के अवसरों तथा समाज कल्याण के कार्यक्रमों का लाभ उठा सकें। उन्हें अधिक वफादार आगा खां और सर अवसरों तथा समाज कल्याण के कार्यक्रमों का लाभ उठा सकें। उन्हें अधिक वफादार आगा खां और सर मुहम्मद शफी जैसे नेताओं ने समर्थन दिया। श्री शफी मुसलमानों के उस नये शिक्षित—पेशेवर वर्ग, बड़े जमींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे, जो उसी स्तर के अधिक उन हिन्दू वर्ग से स्थानीय अधिकार छीन लेने को उत्सुक थे। वे जनतांत्रिक सिद्धांतों को यह रियायतें देने को तैयार नहीं थे, जिनकी सलाह कांग्रेस के डाक्टर अंसारी, उत्तर प्रदेश के एक परम्परावादी भूस्वामी (महमूदाबाद के महाराजा) और बिहार के न्यायधीश सर अली इमाम और उन जैसे अनेक मुसलमान राजनीतिज्ञों ने दी थी। हिन्दू साम्प्रदायिकतावादी भी अकड़ गये। सिख साम्प्रदायिकतावादियों ने भी पंजाब में धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक की हैसियत से विशेष प्रतिनिधित्व की मांग की। जिन्ना और सिख सांप्रदायिकतावादी दोनों ही अधिवेशन से बाहर निकल आये। इस प्रकार मोती लाल नेहरू की रिपोर्ट में 'आम सहमति की पर्याप्त व्यवस्था' के दावे की जो धारणा थी, वह बुरी तरह दब घुट गयी।

घटनाओं के इस तरह के विकास ने औपनिवेशिक राज्य के उस विचार की आलोचना को तीव्रतर किया जिसका प्रतिपादन वामोन्मुख युवकों के प्रतिनिधि जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस ने शुरू किया था। दोनों ही कांग्रेस के महासचिव थे। उन्होंने कांग्रेस को पूर्ण स्वराज के लिये पारित मद्रास के प्रस्ताव पर अमल आगे बढ़ाया। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में (जिसकी अध्यक्षता मोती लाल नेहरू ने की थी) नेहरू की रपट के समर्थन में जो प्रस्ताव रखा गया था, उसमें यह अंश जोड़ दिया गया, पूर्ण स्वराज के लिये कांग्रेस के नाम पर किये गये प्रचार के काम में इस प्रचार के काम में इस प्रस्ताव की किसी भी चीज़ से हस्तक्षेप नहीं होगा। कलकत्ता कांग्रेस में यह भी फैसला किया गया कि यदि सन् 1929 के अंत तक ब्रितानी सरकार ने नेहरू रिपोर्ट स्वीकार नहीं की तो कांग्रेस के अगले वर्ष के लाहौर अधिवेशन में एक नये नागरिक अवज्ञा आंदोलन का आह्वान होगा।

मतभेदों को एक समझौते द्वारा खत्म करके दल की एकता को मजबूत कर दिया गया था। अहमदाबाद में 6 साल का अवकाश लेने के बाद गांधी जी पुनः कांग्रेस के सर्वोच्च नेता के रूप में उभर रहे थे। उन्होंने मतभेदों को सद्भावपूर्ण बातचीत द्वारा सुलझाना चाहा और कांग्रेसी एकता की स्थापना का मुख्य श्रेय भी उन्हीं को था। उन्होंने व्यवस्था दी कि जवाहर लाल नेहरू लाहौर अधिवेशन के अवसर पर अपने पिता की जगह अध्यक्ष हों।

लाहौर अधिवेशन ने निश्चय ही कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य या सम्पूर्ण स्वाधीनता की मांग के लिए इस तरह प्रतिबद्ध कर दिया कि उस प्रश्न पर वह कोई समझौता न कर सके। अब राष्ट्रकुल के अंतर्गत औपनिवेशिक राज्य स्वीकार योग्य नहीं था। सुधारों को लेकर जो हिचकिचाहट होती थी, हमेशा बहुत देर से हमेशा बहुत कम आदि के अहसास से जो दिमागी परेशानियां होती थी, वे खत्म हो गयीं।

31 दिसंबर, 1929 को जब घड़ियाल के घंटे 12 बजा रहे थे और नये वर्ष का आरंभ हो रहा था, जनता की एक अपार भीड़ ने जवाहर लाल नेहरू को रावी के तट पर राष्ट्रीय तिरंगे झंडे को फहराते हुए देखा। उसने सुना, नेहरू जी कह रहे थे: ब्रिटिश सत्ता के सामने अब झुकना मनुष्यता और ईश्वर दोनों के विरुद्ध अपराध है।

बहर एक नयी आशा थी। एक नयी उत्तेजना थी। हवा में स्वतंत्र होने कारण संघर्ष करने वाली जनता का निश्चय भरा हुआ था।